हिन्दुस्तान
दिनांक:- 19-5-02

अफगानिस्तान पर हिन्दी में प्रामाणिक किताब

सुनील कुमार तिवारी

अफगानिस्तान अपने इतिहास, सभ्यता और संस्कृति के लिहाज से बहुत पुराना और समृद्ध राष्ट्र रहा है। चीन, भारत और ईरान-इन तीन सभ्यताओं की धरती ने इस भूमि पर एक मिली-जुली संस्कृति को जन्म दिया, पर विडंबना यह रही कि इस बहुलतावादी संस्कृति का प्रसार यहां के अलग-अलग कबीलों के इर्द-गिर्द विभिन्न रूपों में सिमटता गया। सन् 1960-70 के दौर में आधुनिकता की आंधी अफगानिस्तान में भी बही, पर परस्पर संघर्ष के कारण अफगान कबीले प्रगति और विकास के रास्ते पर न जाकर अंधी गुफाओं की ओर अपना दौर लगाने लगे। सदियों से लंबे खून-खराबे के इतिहास और विषम भूगोल वाले अफगानिस्तान में आधुनिकता की ओर बढ़ते कदम एक बार फिर पुरातनपंथ, जाति, नस्ल, वर्ग, पितृसत्तात्मकता, लिंग भेद, धार्मिक अंधविश्वास, सामंतवाद जैसे परंपरागत ढांचे में उलझते गए और आगे चलकर 'कबीर तालिबान' की शक्ल में तब्दील हो गए। अफगानिस्तान में तालिबानी धार्मिक कट्टरता की उपज कैसे हुई? अफगानिस्तान कब-किन षड्यंत्रों का शिकार हुआ? प्राकृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों का सिलसिला किस तरह चला? अंतरराष्ट्रीय राजनीति ने उसे कैसे झकझोरा? इस्लाम, बौद्ध, हिन्दू धर्म की मजबूत जड़ों के बावजूद अफगान जमीन पर हैवानियत का नंगा नाच कैसे होने लगा? इन सारे नए-पुराने गंभीर सवालों को बड़ी सावधानी से उठाती है- 'अफगानिस्तान बदलते चेहरे' शीर्षक सद्यः प्रकाशित यह किताब, जिसे हिन्दी के वरिष्ठ संपादक और लेखक आलोक मेहता ने संपादित किया है।

समीक्ष्य पुस्तक में अफगानिस्तान की दशा-दिशा पर भारत के शीर्षस्थ व्यक्तियों द्वारा लिखे गए कुल चौबीस लेखों को जगह दी गई है। प्रायः सारे संकलित लेख अफगानिस्तान की वर्तमान दुश्वारियों का सटीक विश्लेषण करते हैं और साथ ही साथ यह कोशिश भी कि समस्या को उसके यथार्थ में कैसे समझा जाए। इसी तरह इस किताब के कई लेख अफगानिस्तान की दुःस्थिति के बारे में विश्वसनीय ढंग की व्याख्या का भंडाफोड़ करते हैं। इस पुस्तक के लेखों से गुजरते हुए ऐसा लगता है कि ये लेख केवल घटना-स्थितियों और समय-समाज के तटस्थ रेखांकन मात्र नहीं हैं, बल्कि इनमें वक्त की नैतिकता से मुठभेड़ के बीज भी निहित हैं। इन लेखों से जाहिर है कि किसी भी युद्ध में हथियार निर्णायक नहीं होते, आदमी ही निर्णायक होता है, अतः आज अफगान की जनता का हित और अफगान की सार्वभौमिकता का मुद्दा ही केंद्रीय मुद्दा होना चाहिए। इस तरह यह किताब अफगानिस्तान के अतीत पर गौर करती है, उसके वर्तमान यथार्थ से मुठभेड़ करती है और प्रायः हर मुद्दे में पाठक हुए अफगानिस्तान के भविष्य के प्रति आश्वस्त करती है।

अफगानिस्तान का अतीत जैसा भी रहा हो और उसका भविष्य जैसा भी होने वाला हो, पर इस देश की वर्तमान स्थितियां बड़ी भयावह और जटिल हैं। गांव तो गांव, यहां के शहरों से भी गुजरना अतीत के कालखंड की यात्रा जैसा है। यहां न बिजली है, न नल का पानी, न ही नालियां। घर मूलतः मिट्टी गारे के बने हैं और यहां सड़कों के नाम पर धूल भरे कच्चे रास्ते हैं, जिन पर बस खच्चर ही चल सकते हैं। 'धरती चाहती सिर्फ मासूमी मुस्कान' शीर्षक लेख में आलोक मेहता ने ठीक ही लिखा है- 'गजनी के पहाड़ों में सोना, हेरात के पहाड़ों में कोयला तथा गैस, शिवरगान, बल्ख और मजारे शरीफ में गैस तथा तेल के भंडार अफगानिस्तान ही नहीं, दुनिया के जाने कितने देशों को खुशहाल बनाने की क्षमता रखते हैं। इसी तरह कंधार के अनार, जलालाबाद के संतरे और पामन के अंगूर का मुकाबला मुश्किल है। अफगानी काजू, किशमिश और पिस्ते विश्वविख्यात हैं। फिर भी प्रगति का आलम यह है कि इस मजबूत देश में आज तक भोले-भाले लोगों को रेलगाड़ी के दर्शन नहीं हो सके।' (पृ. 10) दरअसल, अफगानिस्तान उस भू-भाग का नाम है, जहां धार्मिक और सामाजिक विषमता का कथानक दूर-दूर तक फैला हुआ है और सुख तथा समृद्धि का वैचारिक संस्करण चीज बन कर चंद लोगों के दिल-दिमागों तक ही सीमित है। पुस्तक के ब्लर्ब पर उचित ही अंकित है- 'एक लंबे खून-खराबे, भुखमरी और प्राकृतिक विपदाएं झेलते हुए कौन-सी सहज और संतुलित रह सकती है।' सचमुच, आज के अफगानिस्तान के हिस्से में तो बस बमबारी के कातलीय निशान हैं, यहां-वहां पसरे 'शरणार्थी कैंप' हैं और यहां अन्न-जल के दैनिक हाहाकार हैं। ऐसे में इस देश के आम मासूम लोगों की आंखों में तिरते सपनों और आशा के झिलमिलाते रोशनी-खंडों से अफगानिस्तान के आसमान पर पसरा अंधेरा कितना छंट पाएगा? अफगानिस्तान के इतिहास के वक्त-दर-वक्त बदलते चेहरे का धुंधलापन कितना साफ हो पाएगा?

युद्ध जनता को तबाह करता है। युद्ध का नियम है कि वह हमेशा ही जनता पर थोपा जाता है। 11 सितम्बर की दुर्घटना से आम अफगानी जनता का क्या वास्ता? उनका क्या दोष? फिर उन्हें क्यों मारा गया? क्यों बेघर किया गया? शिक्षा-स्वास्थ्य से वंचित और भुखमरी के मारे ये लोग क्यों तिल-तिल कर मर रहे हैं? इस किताब में कई नामी लेखकों ने ऐसे ढेर सारे मिलते-जुलते सवाल उठाए हैं, जिनका सही जवाब समस्या का शायद सटीक समाधान हो सकता है। 'ये युद्ध को शांति कहते हैं' शीर्षक लेख में अरुंधती राय ने अमेरिकी मनमानी का माकूल नक्शा पेश किया है। अपनी बात रखने के लिए अरुंधती के पास अपनी शैली और अपने तर्क होते हैं- 'हवाई हमलों की घोषणा करते वक्त राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने कहा था, 'हम एक शांतिप्रिय राष्ट्र हैं।' अमेरिका के प्रिय राजदूत टोनी ब्लेयर (जो ब्रिटेन के प्रधानमंत्री पद पर भी आसीन हैं) ने भी उनकी बात तोते की तरह दोहराई: 'हम शांति प्रिय लोग हैं।' हमारी समझ में आ गया है। सुअर घोड़े हैं। लड़कियां लड़के हैं। युद्ध का नाम शांति है।' (पृ. 32)

सचमुच, अमेरिका ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में लगातार अपनी मनमानी की है। ऐसे में अमेरिका की पक्षधरता ही आतंकवाद विरोधी होने का सर्टिफिकेट कतई नहीं हो सकता। मधु दंडवते ने अपने लेख 'आतंकवाद के विरुद्ध अमरीका का पक्षपाती युद्ध' में बताया है कि 'राष्ट्रपति बुश ने जब अन्य देशों से आतंकवाद के विरुद्ध मोर्चाबंदी की अपील की थी तो वह ये तथ्य आसानी से भूल रहे थे अफगानिस्तान पर बमबारी और तालिबान पर हमला कर रहा है।' यह ऐतिहासिक सच है कि तालिबान का सबसे लगातार समर्थक रहा है।' यह ऐतिहासिक सच है कि तालिबान में उसी के लिए काल और जी का जंजाल बन गए। अफगानिस्तान सहित मध्य एशिया के तेल, गैस और खनिज भंडारों पर टिकी कुदृष्टि साफ दिखाई देती है। अरुंधती राय लिखती हैं- 'हममें से किसी को कोई शंका नहीं है कि खाड़ी-क्षेत्र में उनकी उपस्थिति का मूल कारण पूरी तरह उनकी तेल की रणनीति है न कि मानवाधिकारों की रक्षा।' (पृ. 40) इस पुस्तक के अन्य लेखों में भी अफगान समस्या पर कई कोणों से विचार किया गया है। जी. पार्थसारथी ने 'आतंकवाद के स्रोतों का विध्वंसकारी पर्दाफाश' शीर्षक लेख में अपने सुचिंतित तर्कों द्वारा यह दिखाया है कि किस प्रकार मध्य एशिया एवं ईरान में भी तालिबान से पाकिस्तान के रिश्तों के कारण अस्थिरता का संकट आया, पर मीडिया में इसे सूचना को महत्व नहीं मिला। मौलाना सिद्दीकी ने अपने लेख में सटीक विश्लेषण के द्वारा यह बताया कि अफगानिस्तानी समाज बुनियादी तौर पर अभी तक कबीलों में बंटा हुआ है, जिनमें चार-पांच मूल जातियां हैं। सत्ता में कोई भी, असली फैसला अफगानिस्तान में परंपरा से चली आ रही जन-संसद 'लोया जिरगा' ही करने वाली है। अतः 'लोया जिरगा' में पश्तून, उज्बेक, ताजिक, हजारा, किजिलबाश जैसे हर समुदाय का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

हर युद्ध में बच्चे और स्त्रियां सर्वाधिक बेरहमी का शिकार होती हैं। डॉ. हरिकृष्ण देवसरे ने 'आतंकित बच्चे और उनका भविष्य' शीर्षक लेख में अफगानिस्तान में यूनिसेफ के एक प्रतिनिधि के हवाले से बताया है कि 'पिछले महीनों में अफगानिस्तान में एक लाख से भी अधिक संख्या में बच्चों ने जन्म लिया है और अब उनका जीवन खतरे में है। किसी कौम के खिलाफ नहीं समझे जाने की समझ दी है। पुस्तक में संकलित कई लेख अफगानिस्तान के बहाने भारत-पाक संबंधों के बदलते आयाम का संकेत देते हैं तो पूर्व राष्ट्रपति वेंकटरामन अपने लेख में हिंसा और आतंक से मुक्त विश्व की आवश्यकता पर बल देते हैं। इस प्रकार यह कृति अफगानिस्तान की दुःस्थितियों के बहाने विश्व-आतंकवाद की समस्याओं के जड़ तक जाती है। अफगानिस्तान की असली त्रासदी है-लगातार युद्धों के चलते उसकी व्यापक तबाही।

दरअसल, एक साथ देश के प्रबुद्ध पत्रकारों, साहित्यकारों, चिंतकों, दूरदर्शी राजनेताओं को एक मंच पर अफगानिस्तान चिंतन हेतु प्रस्तुत कर देने में ही इस कृति की सफलता नहीं माननी चाहिए, यह पुस्तक वस्तुतः इस बात की गवाही है कि एक प्रबुद्ध पत्रकार वास्तविकताओं की अनदेखी नहीं छोड़ सकता। जिस व्यक्ति में थोड़ी सी भी संवेदना शेष है और युद्ध-आतंकवाद से जिसे घृणा है, उसके लिए इस किताब के लेख कभी निःशेष नहीं हो सकते। इस कृति की इस एक ही सीमा है, जो इन संकलित लेखों को किताबों की अनिवार्य नियति बन जाती है, अफगानिस्तान बदलते चेहरे में भी बहुआयामी विचारोत्तेजना, किंतु निष्कर्षों की अभिव्यक्ति उपेक्षा दृष्टिगत होती है।

अफगानिस्तान बदलते चेहरे
संपादकः आलोक मेहता,
इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली,
पृष्ठ-176, मूल्य: 175